(An evocative portrait of Soul's journey)

सौ ग्राम जिंदगी

कुछ कविताएं कुछ किस्से..

श्यामल सराड़कर

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Shyamal Saradkar 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-81-69726-83-2

Cover design: Anuj
Typesetting: Tanya Raj Upadhyay

First Edition: July 2026

Dedicated to...
Baban Saradkar & Varsha Saradkar

To my parents,
who softly, through the quiet
rhythm of days, sowed the seeds of
innocence and empathy within my soul.
Every spark of my creativity is but
a reflection of
"the unconditional light of love"
they poured into my life.

It is the mirror of their grace...!

सौ ग्राम जिंदगी...!

अनुक्रमणिका

१) मछली को डूबने से बचाया उसने!.. 1
२) उड़ गई नींद...! 2
३) पेड़ की किताब.. 3
४) अदृश्य का विस्तार... 4
५) प्रक्रिया' का सफ़र 5
६) ऐतबार.. 6
७) मंज़िल.. 7
८) मासूमी नज़रिया 8
९) शहर और कुछ लोग... 9
१०) पल 10
११) नारियल पानी.. 11
१२) मखमली नंगे पाँव.. 12
१३) कागज और कलम 13
१४) पंखों में आसमान 14
१५) अक्स का भ्रम 15
१६) मखमली ठहराव 16
१७) मौत का ख़र्च 17
१८) किस्मत और हकीकत 18
१९) उड़ान और पिंजरा.. 19
२०) फुर्सत का आईसीयू.. 20
२१) भूख का भूगोल.. 21

२२) काँच की पृथ्वी 22
२३) छलावा और छज्जा 23
२४) माज़ी के साए 24
२५) सरहद का हमसाया 25
२६) वर्तमान की बारिश 26
२७) हाथ 27
२८) जंगल 28
२९) कोहरे का मोड़ 29
३०) पसीने का गोल चक्कर 30
३१) हुस्न का चश्मा 31
३२) अंतस का कोलाज 32
३३) पत्ती पर धूप-छाँव का घर 34
३४) नाम का फेर 35
३५) प्रेम का प्रतिशोध 36
३६) आदि और अनंत 37
३७) एक मुकम्मल रिश्ता 38
३८) वक़्त की नुमाइश 39
३९) धरती की समझदारी 40
४०) पदकों का पाखंड 41
४१) ख़ुशबू का भ्रम 42
४२) रसगुल्ले का अध्यात्म 43
४३) कवि की निहत्थी नाराज़गी 44
४४) डूबने का हुनर 45

४५) आख़िरी तारीख़ 46
४६) सजी हुई मेज़ का भ्रम 47
४७) थेरेपी का तमाशा 48
48) दूरियाँ 49
४९) मजदूर 50
५०) कंपास बॉक्स 51
५१) फूल 52
५२) मधुमक्खी 53
५३) धूप 54
५४) शिकवा 55
५५) छांव 56
५६) संवेदना 57
५७) दरमियान 58
५८) चौकीदार 59
५९) राब्ता 60
६०) धूल और धुंध 61
६१) इश्क 62
६२) रफ 64
६३) पॉज़ 65
६४) वजूद 66
६५) चिड़िया और इंसान 67
६६) पंछी.. 69
६७) मुखौटों का विसर्जन 70

६८) लिनेन सी ज़िंदगी 71
६९) प्रेम 72
७०) पट्टी 73
७१) खिड़की 74
७२) सूनी चौखटें: एक याद 75
७३) अमीर खिड़कियाँ 76
७४) यादों का मनीप्लांट 77
७५) सुनो ओ पेंटर! 78
७६) दरीचे और ढोंग 80
७७) किफ़ायती फ़लसफ़ा 81
७८) अस्तित्व का संवाद 82
७९) यादों की एक कहानी 83
८०) अमूर्त के तट पर 84
८१) मौसम.. 85
८२) ममता की कीमत 86
८३) वक्त की हथेली 87
८४) मोड़ और मंज़िल 88
८५) नन्हा आतिथ्य 89
८६) जड़ों का अहोभाव 90
८७) खूबसूरत बीमारी 91
८८) खिड़की और स्क्रीन 92
८९) तरक्की की परिभाषा 93
९०) वृक्ष और मनुष्य 94

९१) भ्रम 95

९२) सीपियाँ और समंदर 96

९३) सौ ग्राम ज़िंदगी.. 97

९४) खिलौने 98

९५) रिश्तों का गणित.. 99

९६) परफ़्यूम ज़िंदगी 100

९७) अदृश्य का वैभव.. 101

९८)परिंदों की यूनिवर्सिटी 102

९९) वक़्त की दहलीज़ 103

१००) लम्हों के पर.. 104

१) मछली को डूबने से बचाया उसने!

मछली को डूबने से बचाया उसने!

और समाज में नाम हो गया,..

तारीफों के पुल बांधे जाने लगे...

तालियाँ बजीं, सम्मान हुआ,

बाकायदा एक जलसा मनाया गया....!

और फिर... उसी के सत्कार की खातिर,

शाम को बना लजीज 'फिश फ्राई'...

सबने मिलकर... खूब छककर दावत उड़ाई!

२) उड़ गई नींद...!

जब लगती है भूख 'फ़िक्र' को,
वह हमें ही कुतरने लगती है,
भीतर का सब चैन निगलकर, रूह को खाली करती है..!
इसीलिए... बेहद लाज़मी है इस चिंता का सो जाना,
कि इसके सोते ही मयस्सर होता है
— ख़्वाबों के परिंदे का पर फैलाना,
और नीले अंबर में... बेफ़िक्र उड़ जाना...!

वरना, जो ज़रा सी भी हवा मिली,
और इस चिंता को पर लग गए,
तो हमारे हिस्से की नींद...
हमेशा के लिए उड़ जायेगी...!

३) पेड़ की किताब..

पेड़ ने अपनी जान देकर,
इस किताब के पन्नों को जनम दिया है..."
बस इतना ही कहकर— उसने
हरी-भरी शाख को गले से लगा लिया...!
उसने अनगिनत पौधे लगाए, उन्हें पाला-पोसा,
और इस सोंधी मिट्टी से बेपनाह इश्क़ किया,
बस... इतना ही हुनर आता था उसे!
दूर-दराज़ के गाँवों में मीलों चलना,
जंगलों की बेधुंध, आवारा सादगी,
चप्पे-चप्पे को छान मारना... और ढूँढ लाए बीजों को
— आसमान की ऊँचाइयों तक पहुँचा देना,
बस... यही था उसका कुल काम!

अक्षर उसे कभी पढ़ना नहीं आए,
किताबों से कभी कोई राब्ता न रहा,
पर उसने ज़िंदगी के सबसे गहरे, अंदरूनी सफ़े...
अपनी ही हथेलियों की लकीरों में पढ़ लिए थे,
और उन्हें बड़े जतन से महफ़ूज़ रखा था..

उसका जीना, किताबों का मोहताज़ नहीं था!
किसी स्याही का कर्ज़दार नहीं था...!

४) अदृश्य का विस्तार

एक नन्हे से बीज के सीने में,
अधखुला, पूरा का पूरा दरख़्त सोया होता है,
और फूलों की महक...
आसमान की बाहों में बिखर जाती है..
मगर अचरज देखो! उस वक़्त आसमान के
किसी कोने में, वह बीज कहीं दिखाई नहीं देता...
सच ही तो है... जो सिरा दिखाई नहीं देता आँख को,
वही सबसे विराट होता है,
वही अनंत का विस्तार होता है...!

५) प्रक्रिया' का सफ़र

शक्कर के घोल को, गन्ने का रस कह दिया जाए...!
इतना भी सीधा, सहल और आसान,
कहाँ होता है भला यह जीवन?
उस मिठास के पीछे... एक कशमकश,
एक 'प्रक्रिया' का लंबा सफ़र होता है...!

हर मिठास का अपना एक इतिहास होता है,
और वजूद को रसों से भरने के लिए...
भट्टी और कोल्हू की— एक लंबी 'प्रक्रिया' का प्रवास..!

६) ऐतबार

ऐतबार की बुनियाद कुछ ठिठुर गई है क्या?
या इस ज़िंदगी से मोह कुछ और बढ़ गया है?
रेलवे क्रॉसिंग का फाटक पूरा खुला होने पर भी,
कार की खिड़की से गर्दन निकालकर,
दोनों तरफ़ बार-बार ताकते हुए,
तसल्ली कर लेने वाले लोग हैं हम...!

यक़ीन को पुख़्ता करने की ज़िद में मसरूफ़...!

७) मंज़िल

"सफ़र में कहाँ पहुँचना है, यह मालूम ही न था..."
बस, इस एक लफ़्ज़ ने— आवारागर्दी को एक
नया, मुकम्मल मायना दे दिया!
अब तो बस इस जुमले के आसपास ही भटकना है,
और यही भटकन... अब मेरी मंज़िल है....
कैनवास पर कोई भी चित्र... कभी पूरा नहीं होता,
कौतूहल से भरा ब्रश बस हमेशा भटकता रहता है!
कितनी हसीं है न यह भटकन...!
कितने ही अनछुए रंगों की यह अमूर्त (Abstract) दुनिया है...
एक रूहानी जुड़ाव,

एक मुकम्मल अहसास— 'कनेक्टेड परसेप्शन!'

८) मासूमी नज़रिया

फुटपाथ पर..सजे हुए
ढेर सारे रंगीन गुब्बारे और खिलौने,
और उन्हें बेचने वाले फटे-पुराने लिबास में लिपटे वो बच्चे..
तभी ऑडी का शीशा सरका कर,
एक गुब्बारा थामे उस नन्हे से बच्चे ने कहा—
"मम्मा, ये कितने 'रिच' हैं! कितने लकी हैं ये...
इनके पास कितने सारे खिलौने हैं!"
माँ-बाप...
"वो बहुत गरीब हैं"—यह समझा न पाए अपने बच्चे को,
शब्द मानों कहीं खो गए...
सच ही तो है... बच्चे बहुत मासूम होते हैं,
उसका ज़हन दुनिया की पेचीदगियों से दूर,
बहुत सीधा और सरल सोचता है..
क्योंकि, अभी उनके दिमाग पर
— सांसारिक 'मन' की चालाकियों की परत... नहीं चढ़ी होती..!

९) शहर और कुछ लोग

हम जिस शहर में रहते हैं, वहाँ के बस चार-दो
पसंदीदा लोग... यानी हमारा अपना शहर
उन्हीं चार-दो अज़ीज़ों के साथ,
अगर चले जाएँ किसी और अनजान नगर में,
तो वह पराया शहर भी... पराया नहीं लगता,
अपना सा लगने लगता है...!
सड़कें, दरख़्त, होटल और आलीशान इमारतें,
होती हैं हर एक शहर के हिस्से में,
मगर नहीं होतीं तो— वह रूह से जुड़ी हुई... धड़कती हुई सांसें!
दिल लग जाए... तो फिर पूरा शहर अपना घर लगता है,
और जहाँ ठहर जाए सफ़र...
बस, उसी रुकने का नाम घर लगता है!

१०) पल

सांसों की नाज़ुक बेल पर आया हुआ एक फूल,
ज़िंदगी और मौत की कशमकश... झेलता रहता है कुछ पल!
सामने मुसाफ़िरों से भरी एक मसरूफ़ सड़क है,
इक हुजूम है... जो यहाँ से वहाँ गुज़र रहा है...
उस अनदेखे फूल की हल्की सी, मद्धम महक से,
और उसके एक मोहक से दीदार से...
कुछ पल के लिए ही सही, वो राही सुकूँ पा जाते हैं...
जैसे... तपते, पसीने से तरबतर बदन को,
बर्फ़ का कोई टुकड़ा सहसा छूकर गुज़र जाए...
और किसी उदास शख़्स का पूरा दिन मखमली हो जाए!

क्या फूल... और क्या हम इंसान...!
इंसानों की यह कायनात भी कितनी छोटी सी है,
आख़िर में... सबका झड़ जाना, गश खाकर गिरना तय है..!
पर जब तक तय है यह सफ़र...
क्यों न अपनी मद्धम सांसों की सुगन्ध से,
किसी के बेरंग जीवन-गीत को महका दिया जाए... बस!

सच ही तो है... यह हम सब का वजूद,
मौत की बेल पर खिला... एक छोटा सा,
अदना सा ज़िंदगी का फूल है...!
फिर से कौन आया है यहाँ? आनेवाला है यहाँ?

११) नारियल पानी

"पैंतीस रुपये का बिकता है... एक नारियल पानी!
कम से कम... दिनभर में बीस-पच्चीस तो बिकने ही चाहिए,
तब जाकर कहीं सौ-दो सौ की दिहाड़ी छूटेगी,
और ये अपनी 'मुद्दल' (लागत) घर वापस आएगी...!

पर... उधर बीवी की तबीयत ठीक नहीं
डॉक्टर ने कहा है—'रोज़ सुबह-शाम इसे नारियल पानी देना!'

और विडंबना देखो... मुझे अपनी ही दुकान से,
उसे खरीदकर ले जाना पड़ता है, क्योंकि...
किसी और की दुकान से, यह ज़रा 'सस्ता' पड़ता है!
अजीब ज़िंदगी...!"

१२) मखमली नंगे पाँव

जंगल की उस सूनी ज़मीन पर,
मखमली, ताज़ी घास क्या उगी...
मानो फटी हुई उन बिवाइयों को
— रेशम का कोई मरहम मिल गया!
थकी-हारी 'मज़दूर ज़िंदगी' के वो पाँव,
उस घास के नर्म छुअन से... पल भर के लिए ही सही,
मगर मुकम्मल 'रेशमी' हो गए!

हैरान हूँ... कितनी छोटी होती हैं न ये खुशियाँ,
मगर कितनी 'अमीर' कर जाती हैं ये पल भर में...!

१३) कागज और कलम

जिनके हाथों की लिखावट ही...
एक मुकम्मल नक्काशी होती है,
उन्हें क्या दिखाना अपनी महँगी कलमों का वो बाज़ार!
अपने महँगे पेनों का 'कलेक्शन'

जो अक्षरों को रूह दे सकते हैं, उन्हें भला...
काग़ज़ और ब्रांड के लिबास से क्या सरोकार...!
क्योंकि... उन्हें उस लिबास की कीमत नहीं होती,
वे तो बस होते हैं हुनर के कद्रदान..!

१४) पंखों में आसमान

एक नन्हा परिंदा क्या बैठा खिड़की पर,
लगता है सरहदें पिघल गईं...

और अनंत आसमान खुद उड़कर,
खिड़की से मेरे छोटे से घर में उतर आया!

१५) अक्स का भ्रम

जो हमें समझदार माने, हमें समझदार लगता है,
जो हमें नादान समझे, हमें पागल लगता है!
सच तो ये है कि— ये सारा 'लगना' और 'समझना'
महज़ हमारा है, हकीकत में, हर इंसान को...
बस अपने ही वजूद से गहरा इश्क होता है...

पर ये राज़... न उसे कभी पता चलता है,
न शायद कभी वो जानना चाहता है!
और इसी मासूम से फ़रेब में, इस खेल-खेल में,
एक पूरी उम्र... फिसल जाती है रेत की तरह

"ज़िंदगी कौन है, क्या है, कहाँ है?
जवाबों में दफन... न जाने कितने सवाल थे...

१६) मखमली ठहराव

नए, महँगे लेदर शूज... जब पैरों को काटते हैं,
ज़हन के आसमान तक पहुँचता है वो तीखा दर्द,
और शाम को घर लौटने तक
— ज़ख्मों का एक पूरा पहाड़... पैरों में खड़ा हो जाता है!
पर... उतारते ही वो जूते, उस एक पल में जो सुकून,
जो बेइंतहा सुख मिलता है... अहाहा...! क्या बात!

शायद... ज़िंदगी भी कुछ ऐसी ही तो बसर होती है,
सुबह से शाम तक, दस्तूर के मुताबिक...
दौड़ते रहना, चलते रहना.. पर इस भागदौड़ के बाद
— वो 'ठहर जाना' कितना सुखद है, कितना आनंदमयी है!
हाँ... ठहर जाना बेहद मखमली होता है!

'शुक्रिया' उन चुभते हुए लेदर शूज का...
ज़रा सा चुभने के लिए...
और पूरी ज़िंदगी समझाने के लिए...!

१७) मौत का ख़र्च

टाल सको... तो कुछ दिन और टाल दो अपनी मौत,
अभी कफ़न और लकड़ियों का कोई इंतज़ाम नहीं है!

एक ग़रीब की चौखट पर,
ज़िंदगी से ज़्यादा महँगा... आज जनाज़ा हो गया है...!

१८) किस्मत और हकीकत

मिट्टी में दिन-रात खेती करनेवाले किसान मजदूर !
के उन हाथों की लकीरें पढ़कर,
ज्योतिषी जो हरी सब्ज़ियाँ अपने घर ले आया...
सच तो ये है कि— उसे भी उसी 'मिट्टी वाले'
ने अपने खून-पसीने से उगाया था!

१९) उड़ान और पिंजरा

गैलरी में बैठे उस परिंदे ने...
घर के भीतर चल रही
"अब सेटल हो जाओ" जैसी बातें सुनीं,

और अचानक उसे पिंजरे का ख़याल आया...
और वो 'फुर्र' से उड़ गया!

२०) फुर्सत का आईसीयू

सिर्फ थोड़ी सी फुर्सत की खातिर...
ताउम्र बैल की तरह जुता रहा! पैसा, शोहरत
और रुतबे के पीछे भागते-भागते...
ज़िंदगी की कीलों ने शरीर को भीतर तक छलनी कर दिया...!
अब जाकर कहीं... वो खाली वक्त मिला है!

आईसीयू में... जहाँ सुकून से लेटा जा सकता है,
गहरी खामोशी है, यहाँ तक कि बोलना भी मना है!
चारों तरफ फैली हैं ट्यूब्स,
नलियाँ और सलाइन का पूरा जहान...
जिनसे आगे निकलने की होड़ में
अपनी हस्ती बेच दी थी, वो सारे लोग...
यहीं आजू-बाजू के बेड्स पर मिल गए!

यहाँ एक-एक कर सब साथ छोड़ रहे हैं,
कल सामने वाला गया... आज पीछे वाला गुज़र गया!
अब यहाँ मैं जीतने की वो अंधी दौड़ भूल चुका हूँ,
बस... यहाँ से कूच करने की तैयारी है....
पॉलिसीज़ और म्यूचुअल फंड्स अब मैच्योर हो चुके हैं...
बच्चे परदेस में हैं, पत्नी को अब ठीक से दिखता नहीं,
और मैं... अब सीधे पैर चल नहीं पाता!

"सचमुच... बहुत थक कर आया हूँ यार..."
दम तोड़ते हुए, आख़िरकार वो मुस्कुरा कर बोला!

२१) भूख का भूगोल

अब नहीं चाहिए सोने की अंगूठी,
न सोने की वो भारी चेन, हीरों के हार की चमक भी...
अब नहीं लुभाती..!

पेट में आग सुलग रही है,
मुझे... बस एक सूखी रोटी का टुकड़ा ला दो!
दरकती हुई इस बेजान ज़मीन पर,
सूखे के उस खौफनाक मंज़र में...
वो रोते हुए, बिलखकर उससे बोली...!

२२) काँच की पृथ्वी

देने को जब कुछ न था... तब उसने,
यूँ ही हँसी-मज़ाक में उसे एक कंचा दे दिया था।
पर उसने... उसे सँभाल कर रखा, अपने कलेजे के पार!
न जाने कितने घर बदले, कितनी सदियाँ गुज़र गईं,
पर वो कंचा...आज भी सोने की तरह पाक महफूज़ है.!

अजब था कि उसे उस काँच के गोले में...
पूरी पृथ्वी दिखती थी, और उसे...
उसकी आँखों में वो चमकते कंचे दिखते थे!
वो कंचे... आज भी उसकी आँखों में
वैसे ही तैर रहे हैं,
और ये पृथ्वी... आज भी वैसी ही गोल घूम रही है...
वक़्त का बहता हुआ दरिया...!

२३) छलावा और छज्जा

मोहब्बत में ये दावा...
"तेरे लिए मैं आसमाँ से चाँद-तारे तोड़ लाऊँगा..!
कहना कितना आसान होता है ना,
जैसे वो बेहद पास हों, जहाँ हमारा हाथ
आसानी से पहुँच जाता हो...
मगर जैसे ही वो कहती है
— "ज़रा उस छज्जे के जाले साफ़ कर दो,
मेरा हाथ वहाँ नहीं पहुँचता..." तो ये सुनते ही
वो अदना सा छज्जा, न जाने क्यों...
चाँद से भी ज़्यादा दूर लगने लगता है!

सच कितना तकलीफ़देह है...
और कितना दूर भी,
और झूठ... कितना ख़ूबसूरत, कितना करीब!

२४) माज़ी के साए

माज़ी की दहलीज़ लाँघते वक़्त...
मन ने आहिस्ता से कहा,
"लौट कर आने में... अब ज़रा देर होगी...!"
डगर पुरानी यादों की है ना, क्या पता...
मन कहीं बीच राह में ही ठिठक जाए,

किसी भूली हुई बात के मखमली साए में... रीझ जाए...!
और ये भी तो तय है... कि गुज़रे ज़माने की इस
धुंधली पगडंडी पर,
कुछ पुराने ज़ख़्म... एक बार फिर उभर आएँगे...!

२५) सरहद का हमसाया

जहाँ शहर दम तोड़ता है और जंगल अंगड़ाई लेता है,
ठीक उसी सरहद पर... खड़ा है एक पुराना, बूढ़ा दरख़्त...
अपनी पूरी आन-बान और शान से तना हुआ,
जिसने अपनी बाहें... दूर रस्ते तक फैला रखी हैं...!
ज़िंदगी के ख़ुशी के दिनों में...
मैं यहीं बैठा, और जब वक़्त स्याह हुआ,
दुखों के दिनों में भी... यहीं आसरा लिया...

इस दरख़्त ने मुस्कुराते वक़्त...
मेरी ख़ुशियों को और बढ़ा दिया,
और जब आँखें नम थीं...
तो इसने चुपके से मेरा बोझ हल्का कर दिया...!
गज़ब की रूह है इस पेड़ की... न जाने कौन,
किस दौर में इसे यहाँ लगा गया था,
मुझे नहीं मालूम। पर जिसने भी लगाया...
दिल से शुक्रिया मेरे उस अंजान दोस्त...

क्योंकि मेरी ज़िंदगी की शाख़ पर जो ये फूल खिला है ना,
वो तुम्हारे ही बोए इस शजर की छाँव में
धीरे-धीरे पनपा है....!

२६) वर्तमान की बारिश

उस तिलिस्मी, मूसलाधार बारिश के दरमियाँ,
ठीक उसी लम्हे... ज़हन में एक भी लफ़्ज़ का न आना,
काग़ज़ का कोरा रह जाना...

दरअसल गवाही है इस बात की,
कि वर्तमान की आगोश में
पूरी शिद्दत से जी रहा... वो शख़्स...!

एक मुकम्मल कवि है!

२७) हाथ

उस बर्बर, सुसाट तूफ़ान में, मकां ताश के पत्तों की तरह
ज़मींदोज़ हो गया, कमरों में सजा
एक-एक साज़-ओ-सामान...
वो अंधड़ अपने साथ लूट कर ले गया...

मगर ऐसे मंज़र में भी, 'घर' का सलामत रह जाना...
दरअसल, तुम्हारा वो कसकर थामा हुआ हाथ था,
जिसे बिखेरने आया वो तूफ़ान...
न जाने क्यों, हमारी नज़दीकियों को और बड़ा कर गया!

आख़िर... दीवारों और बेजान चीज़ों से
कहाँ घर बनता है...! कभी बना है भला?

२८) जंगल

हम इस सल्तनत के सुल्तान हैं...
ये बात खुद उस शेर को क्या,
जंगल में किसी को नहीं मालूम,
सिवाय 'इंसान' के... और ये इंसान?
ये तो सच की कोई कसौटी है ही नहीं!

हकीकत तो ये है कि इस हरी-भरी कायनात में,
हर परिंदा, हर जानवर... अपनी-अपनी मौज में,
अपने ही ठाठ से... इस जंगल का राजा है...!

माना खौफ़ है उसका... पर डर ही सब कुछ तो नहीं,
और माना वो ताकतवर है... पर "शेर" ही सब कुछ तो नहीं...!

२९) कोहरे का मोड़

सामने अब कुछ भी दिखाई नहीं देता,
ज़रा सा अक्स भी नहीं...
क्या राह भटक गए हैं हम, या भटकते-भटकते...
मंज़िल के बहुत सामने आ गए हैं हम?
कि जो भी था पीछे, वो सब छूट गया,
और जो आगे है... वो अभी आँखों में समाता नहीं....

इतना आगे आ जाना भी....
कितना निशब्द कर देता है ना...!

३०) पसीने का गोल चक्कर

एक मज़दूर ने दिन-रात... जी-तोड़ मेहनत की,
खूब पढ़ा-लिखा, और एक दिन... बहुत बड़ा आदमी बन गया..
अब वो अपने दिन का एक बहुत बड़ा हिस्सा,
एक बेहद आलीशान, पॉश जिम के
वातानुकूलित कमरों में,
'फंक्शनल ट्रेनिंग' के नाम पर गुज़ारता है...
और ठीक वैसी ही हरकतें, वैसी ही कसरत करता है,
जैसी वो कभी दो वक़्त की रोटी के लिए,
खेतों या रास्तों पर किया करता था!

सच ही तो है... ये दुनिया गोल है,
और हम सब... इस कायनात के मज़दूर ही तो हैं!
बस वक्त-वक्त पर..
हमारे काम और नाम बदल जाते हैं...!
है ना?

३१) हुस्न का चश्मा

अगर फितरत से कोई शख्स बुरा भी हो,
मगर सूरत से वो बेहद हसीं और पुरकशिश हो...
तो अजीब है कि वो अपनी असलियत से
ज़रा कम बुरा लगता है, लोग मुस्कुराकर...
उसकी कड़वाहट से आँखें मूंद लेते हैं!
इसके बरअक्स... अगर कोई फितरत का खोटा,
दिखने में भी बदसूरत या सादा सा हो...
तो वो जितना बुरा है, लोग उसे उससे कहीं ज़्यादा
गुनाहगार बना देते हैं,

वहाँ फिर... हर कोई उसके मिज़ाज का हिसाब रखने लगता है!
कितने पेचीदा, कितने अजीब हैं ना ये दिमागी तमाशे...
तभी तो कहा है किसी ने,
कि ये दिल, ये मन... बड़ा बेईमान है!

३२) अंतस का कोलाज

मन की थाह... भला कहाँ मिलती है किसी को,
और यही एक बात तो है, जो इस अनंत आसमाँ से भी
बड़ी हो जाती है। ये बावरा मन...
दसों दिशाओं में भटक कर लौट आता है, मगर कहीं भी...
कोई पगडंडी, सुकून का पता नहीं देती.
समझ नहीं आता... ये रोज़मर्रा की ज़िंदगी का रास्ता,
वक़्त के किस गाँव की चक्की में,
हर रोज़ बेदर्दी से पीसा जाता है?
और जब वजूद का आटा उड़ता है...
तो गर्द के गुबार के कण भी, उसमें
कितने बेमालूम ढंग से... घुल-मिल जाते हैं!

नीचे का आसमाँ ऊपर... और ऊपर का धरातल नीचे..
. सब एक... एकाकार! घुलमिल... झिलमिल...!
अगर मन की अपनी कोई खिड़की ही न खुली हो,
तो चौखट पर नाम की तख़्ती लगाने से भला क्या हासिल?
वहाँ तो फिर... पता चाहे खो जाए या
वक़्त के साथ ढल जाए, क्या फ़र्क़ पड़ता है!
आख़िरकार... पहुँचना तो उसी 'अमूर्त' के गाँव में है ना...
वहाँ... मन के इस कोरे काग़ज़ पर नक्काशी करने वाला,
कोई जादुई कारीगर तो होगा ना?

जहाँ एक मुसाफ़िर... गहरे ध्यान और अहोभाव में
चलते-चलते, एक दिन जब पहुँचेगा...
तो वो गाँव, मन के किसी अंदरूनी कोने में,
गहन रंगों का एक मुकम्मल ‘कोलाज’ बना देगा...

और तब... उसी अथाह गहराई के उस सुदूर छोर पर,
एक बेहद साफ़, निरभ्र आसमान दिखाई देगा...
वही तो है असली घर तुम्हारा...
और वही तो है तुम्हारा सच्चा पता...!

३३) पत्ती पर धूप-छाँव का घर

उस एक बेहद कोमल, नन्हीं सी पत्ती पर...
धूप और छाँव ने, बिना पूछे ही अपना एक घर बना लिया है
यह पत्ती पर चलता... धूप-छाँव का एक शाश्वत खेल है!
हवा का झोंका जब भी आता है,
तो कभी छाँव का घर बड़ा हो जाता है... तो कभी धूप का..
यह हवा... पत्ती की ज़मीन पर
घरों का बंटवारा होने ही नहीं देती...

वहाँ कभी किसी की हवा होती है, तो कभी किसी का ज़ोर...
बस यूँ ही थिरकता रहता है...
यह धूप-छाँव का अंतहीन तमाशा!

अजीब है कि... छाँव का घर कभी धूप में गुम हो जाता है,
और धूप का घर... कभी छाँव की आगोश में समा जाता है...
ठीक इसी तरह... अंतर्मन की गहराइयों में
लुढ़कता चला जाता है यह जीवन,
वक़्त के प्रवाह के साथ...
रास्तों के मोड़ों और चढ़ाव-उतार के अनुरूप...!

३४) नाम का फेर

अमीर होने का... बस एक यही तो बड़ा फ़ायदा होता है,
कि जब शहर की भीड़ से जी ऊब जाए,
तो सुकून की तलाश में...
किसी आलीशान 'फार्म हाउस' पर जाया जा सकता है...!

मगर इसी सुकून को रोज़ जीने के लिए...
गाँव के सीधे-सादे लोग, बस यूँ ही,
सहज भाव से... अपने 'खेत' चले जाते हैं!

३५) प्रेम का प्रतिशोध

एक रोज़... 'अहिंसा' ने बेहद आहिस्ता से,

बड़े प्रेम और आत्मीयता से... 'हिंसा' के कान में कहा:

"देखना... एक दिन,

मैं बड़ी ख़ामोशी से... तेरी जान ले लूँगी..."

३६) आदि और अनंत

नदियाँ, समंदर, हवाएँ, ये पहाड़
और धड़कती हुई मिटटी... ये चाँद-तारे और
सदियों से जलता हुआ सूरज,
इन्हें इंसान की किसी फैक्ट्री
या ज़हन ने आज़ाद नहीं किया;

ये हमारे होने से पहले भी थे, हमारे बाद भी रहेंगे...
कितना सीधा और साफ़ है ना सच...
कि जो हमारे बिना भी आदि और अनंत है,
वही तो विधाता है!
अगर इस इंसानी बनावट से परे की कुदरत को ही
हम 'रब' कह दें,
तो आस्था के नाम पर बुने गए सारे ढोंग...
तर्कों की पहली ही धूप में... पानी की तरह पिघल जाएंगे...!

३७) एक मुकम्मल रिश्ता

रिश्तों के सारे तयशुदा दायरों से परे...
चलो एक अनूठा अनुबंध करते हैं,
तुम कभी थक हार कर, मेरी गोद में सर रख देना,
और मेरी भूलों को भुलाकर...
कभी-कभी मेरी 'माँ' बन जाना...!
और मैं... इस दुनिया की हर बुरी नज़र के सामने,
तुम्हारी हिफ़ाज़त की खातिर...
एक पिता का साया बनकर,
अपनी आख़िरी सांस तक खड़ा रहूँगा,
हाँ... मैं उम्र भर के लिए तुम्हारा 'बाप' बन जाऊँगा!

३८) वक़्त की नुमाइश

चमकता हुआ पट्टा, डायल का रौब और ब्रांड का नाम,
ज़माने के लिए तो... यह
मर्द की कलाई का सबसे नायाब ज़ेवर है,
जिससे हैसियत नापी जाती है, वक़्त नहीं...!

ग़ज़ब का हुनर है इस दौर के ख़रीददारों का...
कि लाखों की इस रईसी को बाँधकर,
वो दुनिया को अपना मिज़ाज दिखाते हैं,
रही बात लकीरों और सुइयों की...
तो कुछ लोग, इस दिखावे के बीच...
वक़्त देखने की रस्म भी निभा लेते हैं....!

३९) धरती की समझदारी

जो हिसाब-किताब की चालाकियाँ नहीं जानते,
जो दिल हारने के सौदों में...
हमेशा अपना सब कुछ लुटा आते हैं,
ज़माना भले ही उन्हें नासमझ, नादान या 'मूर्ख' कहे,
मगर वे ही इस सूखी मिटटी में...
आंसुओं से संवेदना के फूल खिलाते हैं...!

अगर ये निश्छल और पाकीज़ा रूहें न होतीं,
तो ये कायनात महज़ पत्थरों का
एक ठंडा ढेर बन चुकी होती...
इन पागलों के दम से ही...
आज बहारों का वजूद सलामत है,

यही तो इस बूढ़ी पृथ्वी की सबसे बड़ी समझदारी है,
कि उसने अपनी ख़ूबसूरती का ये राज...
आज भी इन मासूमों में छुपा रखा है!

४०) पदकों का पाखंड

उसे अपने देश से... बेइंतहा, अगाध मोहब्बत है,
और अपनी पाली हुई उस बिल्ली पर भी...!
वो जान छिड़कता है!
बस... ये इंसान ही हैं,
जो उसकी फेहरिस्त में सबसे नीचे आते हैं,
उसकी प्राथमिकताओं में... इंसानों की कोई जगह ही नहीं...

और मज़े की बात देखिए...
कल ही उसे एक बहुत बड़ा,
आलीशान 'पुरस्कार' मिला है....
वाह! क्या कमाल का देशप्रेम है,
और क्या लाजवाब प्राणीप्रेम है...!

४१) ख़ुशबू का भ्रम

इत्र की उस शीशी का... वो आख़िरी,
अधमरा सा और मरियल सा कतरा
जब इस देह पर छिड़का, तब जाकर ये अहसास हुआ—
कि एक ज़िंदा लाश की तरह लगता है यह शरीर!
यह महकती हुई ख़ुशबू...
महज़ एक भ्रम है, एक छलावा है...
मगर इस छलावे को ज़िंदा रखने के लिए...
पीछे एक बहुत बड़ी इंडस्ट्री है,
एक विशाल बाज़ार खड़ा है...

यहाँ इस ख़ुशबू के ख़रीदार भी मौजूद हैं,
और इसे बेचने वाले भी!
अजीब है ना... कि महज़ कुछ चंद लम्हों के लिए,
इस पसीने से तर-बतर,
नश्वर देह को सँवारने की यह कैसी नाकाम कोशिश है...!

४२) रसगुल्ले का अध्यात्म

इस रसगुल्ले का स्वाद भी...
कितनी अचरज भरी बात है ना!
शुरुआत के पहले तीन-चार सेकंड...
हम सिर्फ उसकी चाशनी का मीठा पानी चूसते हैं,
और फिर उसे चुपचाप गले के नीचे उतार देते हैं..
अहाहा! कितनी मिठास...
चेहरे पर एक प्यारी सी खुशी तैर जाती है...!
मगर खेल तो इसके बाद शुरू होता है...
बाद के तीन-चार सेकंड, मुँह में बचे हुए उस सफ़ेद,
बेरस रेशे को चबाना,
और उस फीके पड़ चुके स्वाद को...
शून्यता में ताकते हुए महसूस करना,
यही... यही तो असल में रसगुल्ला है!
तब उसका एक-एक सूखा रेशा...
एक बिल्कुल अलग स्वाद का अहसास कराता है...!
और फिर आख़िर में... उसका एक हल्का सा,
आखिरी कतरा, गले में ज़रा सा अटक जाता है...
जिसे हम नज़रअंदाज़ करके, बस यूँ ही गटक जाते हैं..
और मुँह पोंछते हुए मुस्कुराकर कहते हैं

— "वाह! क्या लाजवाब रसगुल्ला था।" है ना?

४३) कवि की निहत्थी नाराज़गी

मैंने तो शब्दों के अंगारे चुनकर...
एक तीखा विद्रोह लिखा था,
मुझे लगा था... इसे पढ़कर
तुम्हारी रगों का लहू खौल उठेगा,
तुम्हारी मुट्ठियाँ भिंच जाएंगी.
मगर 'शिट यार!'... तुम तो मुस्कुराए,
और बड़े लाड से कह दिया
—"तुम्हारी कविता बहुत ख़ूबसूरत है,
तुम्हें बहुत सारा प्रेम!"

लो... कवि महाशय और भी ज़्यादा नाराज़ हो गए!
शायद... विद्रोह के उस भारी-भरकम
बारूद से कहीं ज़्यादा,
इस निश्छल, सीधे-सादे 'प्रेम' में ही...
सबसे बड़ी ताक़त होती है!

४४) डूबने का हुनर

मैंने देखा है तुम्हें... उस गहरे पानी में तैरते हुए
, मगर सच तो यही है कि..
तुम्हें अब तक, ठीक से डूबना आया ही नहीं...!

इश्क़ हो या इबादत... कमाल तो तब है
जब तैरने के सारे आदाब भूल जाओ,
जब ख़ुद को बचाने की ये
आख़िरी कोशिश भी ख़त्म हो जाए...!

अफ़सोस... कि तुम अब तक ख़ुद को संभाले हुए हो,
और जो डूब नहीं पाया... वो पार कैसे होगा?

४५) आख़िरी तारीख़

प्यारे कवि... सुन रहे हो ना?
अगर चांद पर कोई कविता लिखनी है,
तो बस... फटाफट लिख डालो, जो लिखना है!

क्योंकि... इंसान पहुँच रहा है अब चांद पर,
यह ख़ूबसूरत, बेदाग़ चांद...
बस कुछ ही सालों का मेहमान है अब...!
फिर देखना... बहुत जल्द,
हम अपनी इस आदत के मुताबिक़...
उसकी भी 'पृथ्वी' बनाकर छोड़ेंगे!

४६) सजी हुई मेज़ का भ्रम

पूरे हफ़्ते जो वजूद... किश्तों और बजट के कंकड़ चुनता है,
लोकल ट्रेनों और दफ़्तर की फाइलों में पिसा करता है,
उसे इतवार की शाम...
चमचमाती लाइटों के बीच एक मेज़ चाहिए होती है...

एक सजी हुई प्लेट, कुछ चंद मिनटों की वो झूठी रईसी,
और हाथ में आया वो भारी-भरकम बिल...
मानो उसकी थकी हुई रीढ़ को...
दोबारा सीधे खड़े होने का हौसला दे देता है...
वो मुस्कुराकर बिल चुकाता है...
और सोचता है कि वो जीत गया!

अजीब है ना इस वर्ग की कामयाबी का ये दायरा...
कि अगर किसी हफ़्ते ये रस्म अधूरी रह जाए,
तो घर की दाल-रोटी भी...
हार के किसी कड़वे स्वाद जैसी लगने लगती है!

४७) थेरेपी का तमाशा

आज... एक सायकियाट्रिस्ट दोस्त से जमकर झगड़ा हो गया!
मगर असली तमाशा... उस बहस के बाद शुरू हुआ,
जब हम दोनों... एक-दूसरे की आँखों में आँखें डाले,
ऊँची आवाज़ में, इस बात पर बहस कर रहे थे कि
'ग़ुस्से पर क़ाबू कैसे पाया जाए...?

ग़ज़ब का मंज़र था...
वो मुझे शांत रहने का नुस्खा दे रहा था,
और मैं उसे...!
और इस तरह,
हम दोनों ही एक-दूसरे पर भारी पड़ रहे थे!

48) दूरियाँ

बीते दौर में लोग छतों पर लेटकर देखते थे
सितारों से लदा वह अनंत आकाश,
शून्य में ताकते हुए अपनों से बतियाते थे..!

मगर अब... नींद से पहले लोग,
रजाई का एक 'आर्टिफिशियल' आसमान ओढ़कर
भीतर मोबाइल की स्क्रीन में डूबे रहते हैं..!
कमाल है... दुनिया कितनी सिमट आई है,
और इंसान... कितना दूर हो गया है!

देखो तो सही, ये (स्क्रीन के) सितारे कितने करीब आ गए हैं!

४९) मजदूर

उस मज़दूर को महँगी 'नेचरोपैथी' का,
गार्डन में घास पर नंगे पैर चलने का,
मड स्पा या सन-बाथ का... कोई शौक़ न था..!

वो मुस्कुराकर बोला— "यही तो हमारी रोज़ की पूँजी है,
हमारा वैभव है! तपती धूप में,
इस मिट्टी और कीचड़ को पैरों से रौंदते हुए
कुदरत के साथ कदम से कदम मिलाकर चलना...
यही हमारी नेचरोपैथी है, और यही हमारा सन-बाथ...!

इस कुदरती सल्तनत के... हम ही राजे हैं!"
बाज़ार जिसे बेचता है लाखों की कीमत
हम उसे रोज़ जीते हैं शहंशाहों की तरह...!
यार!
किसी चीज में तो अमीर है! राजा है!

५०) कंपास बॉक्स

शार्पनर के भीतर पेंसिल को गोल-गोल घुमाना
और उस सुंदर, गोलाकार, रंग-बिरंगे
छिलके को देख खुश हो जाना...
बचपन भी कितना! फूलों की तरह सहज और मासूम था।

आज गैलरी में खिले उस गोल रंगीन फूल को देख,
अचानक याद आ गई वह रंगीन पेंसिल और शार्पनर...

न जाने कहाँ गुम हो गया वह कंपास बॉक्स...!
जिसके भीतर सजे थे... वो सारे 'क्यूट' हथियार।

५१) फूल

शाख से टूटकर गिरे उस फूल को,
क्षण भर को ही सही...
टहनियों से बिछड़कर धूल हुए उस फूल पर,
अंततः वह दरख़्त ही अपनी छांव धरता है...!

तपिश बहुत है न बाहर की दुनिया में...!

५२) मधुमक्खी

मधुमक्खी... शेर से कहीं अधिक शक्तिशाली होती है...!
जीवन के इस गूढ़ सत्य को,

जब कलात्मकता से समझ लेती है आँखें,
तब यह जीवन... कितना सहज और सुंदर हो जाता है...!

५३) धूप

तपती दोपहरी के सीने पर,
जो दिनभर खून-पसीना बेचते हैं...
उन मज़दूरों को, हमारी तरह वातानुकूलित कमरों में
सुस्ताते हुए, मखमली आह भरकर—"ओह!
कितनी कड़ी धूप है..."
कहने की विलासिता... मयस्सर नहीं होती..!

उन छालेदार हाथों के हिस्से...
बंद कमरों की ठंडी हवाओं में बैठकर,
मौसम की बेरहमी का शिकवा करना... कभी आता ही नहीं..!

५४) शिकवा

आस-पास जब अनर्गल उदासी, निराशा,
और शिकवा करते चेहरों का हुजूम हो...
तब भीतर से प्रफुल्लित रहना, कलात्मक बने रहना,
और समूचे अस्तित्व के प्रति कृतज्ञता से सराबोर रहना—
यह पावन विधा... कितनी बदरंग
और कुरूप होने लगती है..!

आख़िर... ज़िंदगी महज़ एक 'ट्रिप' ही तो है...!
चार दिनों की यह मखमली मुसाफ़िरी...!
यहाँ 'इटायनरी', सफ़र और लोग
बहुत मायने रखते हैं भाई साहब!

लौटते वक़्त... अगर रूह को नए पंख मिल जाएं,
तो एक समूचा आकाश...
आँखों में परिंदा बनकर फिर चहक उठेगा...!

तब... दर्द फिर उतने तकलीफ़ वाले नहीं लगते,
ख़ुश रहना... इतना भी मुश्किल नहीं लगता..!

५५) छांव

उम्र भर जो केवल धूप के दंश को सहता रहा,
उसके हिस्से जब छांव आती है...
तो वह रूह की शिफ़ा बन जाती है।
आख़िर.. छांव का अपना घर भी तो धूप के ही भीतर होता है।

शायद... जो खुद ताउम्र उस तपिश में झुलसता रहा हो,
वही शख्स... किसी और के लिए
बड़ी जल्दी छांव बन पाता है...!
किसी बिलखते हुए के सर पर,
उतनी ही तत्परता से... अपना साया धर पाता है...!

५६) संवेदना..

परस्पर संवेदना, प्रेम और करुणा का जीवित रहना...
यही मनुष्य के विकास का
सर्वोच्च शिखर है, और सदैव रहेगा..!
इसके अलावा... शेष जितनी भी तथाकथित प्रगति है,
वह मात्र एक 'अंधविश्वास' है..!

क्योंकि इस समूची सृष्टि में, इंसान का सबसे
मुकम्मल और बड़ा सृजन...
लोहे और मशीनों का यह अंधा जाल नहीं,
बल्कि धड़कता हुआ... एक 'संवेदनशील मन' है!

५७) दरमियान

एक सरकारी स्कूल के फाटक के बाहर,
उस नन्ही-सी मासूम ने खरीदी बोरकुट की एक पुड़िया...
बेचने वाली उस बूढ़ी माई और खरीदने वाली उस 'क्युटी'
के चेहरों पर बिखरे उल्लास के रंग... कितने एक जैसे थे...!

एक रुपये का वह चमचमाता कलदार,
जब इस हाथ से उस हाथ में गया,
तब (वक़्त के) दो किनारे जैसे परस्पर मिले
और निहाल हो गए; और उनके बीच बहती रही...
एक भीगी-सी नदी गुनगुनाती हुई।

न जाने काल का कितना पानी बह गया है तब से अब तक!
बचपन... जवानी... और यह बुढ़ापा...
इस आँखों में ठहरा संसार भी कितना क्षणभंगुर है!
वह बूढ़ी आँखें टकटकी लगाए
देखती रहीं उस कलदार को,
और समूचा जीवनपट...
आँखों के सामने से सर्र से गुज़र गया।
सच ही तो है...
बेर के पेड़ों पर कभी
बोरकुट की पुड़ियाँ नहीं उगा करतीं,

उनके बीच... एक लंबा सफ़र तय करना पड़ता है दरमियान!

५८) चौकीदार

सिर्फ इसलिए कि चौकीदार एक सलाम दागे,
कार की रफ़्तार... अपने आप ही कुछ धीमी हो जाती है..!

इस सोसाइटी के आलीशान गेट ने,
आते-जाते हुए रोज़ न जाने कितने सलाम देखे हैं...!

सारे सलाम... एक जैसे, एक ही सांचे में ढले हुए,
मगर... उसके प्रत्युत्तर में, हर कार-मालिक के
चेहरों के भाव... कितने जुदा, कितने अलग!

सच ही तो है...
ठहरकर सोचो तो...
यह ज़िंदगी भी तो एक चौकीदार ही है...!

५९) राब्ता

वह जन्म से ही पैरों से लाचार थी...
एक रोज़ नया-नवेला कप चाय पीते हुए हाथ से छूटा,
और उस कप का कान टूट गया;
बस... उसी पल से दोनों के बीच
एक अनूठा रिश्ता पनप गया।
उसने उस कप को बहुत सहेज कर रखा...
वह उसे ताउम्र सहेजती रही,
दर्द का दर्द से... कुछ ऐसा राब्ता जुड़ गया था।

वह कप अब उसकी हर बात सुन सकता था,
और वह... चाय की चुस्कियों के बीच
अपनी आँखों से बोलती थी..!

भौतिक दूरियों से परे...
अब उसके विचारों को पैर मिल गए थे,
सपनों को नए पंख मिल गए थे...
और उस अकेलेपन की सोहबत में,
उस कप के भीतर... उमड़ रहा था एक ख़ामोश तूफ़ान...!

६०) धूल और धुंध

छत के उस छज्जे पर, गर्द में डूबी,
सुस्त और कबाड़ के बीच पड़ी...
उसे अपनी तीसरी-चौथी कक्षा की किताबें दिखीं..
घर बदलना था... एक नया फ्लैट अभी-अभी बुक किया था..
"सारा कचरा बाहर करो, नए घर में कबाड़ नहीं चाहिए...
सामान बहुत बढ़ गया है," घर के सब एक सुर में बोले..

हम सब कितने बड़े हो गए हैं न...!
कि बचपन की वो किताबें... अब 'कचरा' हो गईं।

किताबों के पन्नों पर आड़ी-तिरछी लकीरें थीं,
मास्टर जी के चेहरे रंगे हुए थे...
कंचे, पृथ्वी, सूरज, बादल, नदियाँ और पेड़,
क्या कुछ नहीं उकेरा था
उन कोरे पन्नों पर... महज़ लकीरों से!

कभी हम पर भी धूल जमेगी...
नवनिर्मित घर के किसी कोने में,
हमारा फोटो भी ऐसे ही पड़ा होगा,
जब इस नए घर वाले... और भी नया घर खरीदेंगे!
वह मुस्करा कर उससे बोला..!
उसपर,
"तुम्हारा बचपन कभी जाता नहीं न..."
वह... बेहद संजीदगी से बोली...

६१) इश्क

देह सूखकर छाती का पिंजर बन चुका...
एक बूढ़ा रिक्शावाला, और उस वीरान सड़क के किनारे,
मांस गल जाने से दम तोड़ता... एक मरणासन्न कुत्ता..!

फटे-मैले जेब में दबा हुआ... बस एक दस का नोट,
पाँच का पारले-जी, पाँच की चाय! मगर चेहरे पर...
चिंता की एक भी लकीर के बिना तैरती एक निश्छल मुस्कान..

उस अधमरी, बेजान बीड़ी का सुलगता हुआ ठूंठ,
और हवा में तैरता उसका हल्का-सा स्याह धुआँ...
उस धुएँ को तकते-तकते,
शून्य की अगाध गहराइयों में डूबती उसकी आँखें...
चाय की हर चुस्की के साथ, बगल में पड़े हड्डियों के
उस ढांचे (कुत्ते) के आगे... एक-एक कर
ख़त्म होती पारले-जी की पूरी पुड़िया!

और चाय की आखिरी घूंट के साथ,
बीड़ी के उस आखिरी चिरकुट को सुलगते हुए...
उसकी आँखों में तैरती एक धीर-गंभीर, कलात्मक तिरछी नज़र!

चाय भी ख़त्म, बीड़ी भी ख़त्म, पारले-जी भी ख़त्म..
मगर उस बेज़ुबान के चेहरे पर भूख की तड़प
को मिटते देख, एक असीम तृप्ति से सराबोर...

उस बूढ़े रिक्शेवाले की वो धँसी हुई आँखें...
और आसमान-सी विराट नज़र!

आज... 'इश्क' देख लिया...!
मार्केटिंग के चकाचौंध वाले छलावे में डूबी दुनिया को,
अक्सर... ऐसी रूहानी चीज़ें
अपनी दृष्टि के दायरे में दिखाई ही नहीं देतीं...!

६२) रफ़

लिखते हुए... उस खुरदुरे
'रफ़' को 'फेयर' करते चले जाना...

सफ़र के किसी पड़ाव पर,
जब भीतर से गूँज उठे— "बस यार!
अब मुकम्मल हो गया... मज़ा आ गया!" तब...
बाहर की यह दुनिया भी रफ़ नहीं लगती,
वह भी बिल्कुल सुलझी हुई और 'फेयर' लगने लगती है।

आख़िर... हम उम्र भर,
बाहर की दुनिया के बारे में ही तो लिखते रहते हैं...!

६३) पॉज़

बोलते हुए... अब ये 'पॉज़' कुछ ज़्यादा ही बढ़ गए हैं,
जी चाहता है... अब बस ये ठहराव ही शेष रह जाए..

तुम्हारे बोलने से कहीं ज़्यादा हसीन है तुम्हारा 'न बोलना'...
क्योंकि, तुम्हारी आँखों पर किसी ने
— शायद... 'वोकल कॉर्ड' का कलम कर दिया है!

कौन है वो माली? जिसने संवेदनाओं का
इतना हरा-भरा शजर...
तुम्हारे भीतर जन्मने के लिए छोड़ दिया है..!

मगर 'वो' जब बोलती है...
तो पल भर को भी पॉज़ नहीं लेती,
और फिर... बेतहाशा थककर हार जाती है,।
उसी संवेदना के झाड़ से टेक लगाकर...!

६४) वजूद

अपनी ही चालाकियों की ओट में छिपकर,
ताउम्र सिर्फ़ खुद की इबादत करना...
हमारी फितरत है..
मगर ताज्जुब देखिए... कि इस खुदगर्जी की ख़बर,
खुद हमारे अपने ही वजूद को नहीं होती!

इंसानों के चेहरे पर तैरते...
इस नितांत अज्ञान और इस
'क्यूट' से मुखौटे को देखकर, न चाहते हुए भी...
कभी-कभी रश्क हो जाता है, प्यार आ जाता है..!

६५) चिड़िया और इंसान

पेड़ पर बैठी उस नन्हीं सी चिड़िया को, आंखें बड़ी कर...
बस एकटक देखते ही रहने का मन करता है..
वह फल खाती है—ठुंगक-ठुंगक कर,
चोंच से बस एक निवाला उठाती है,
और आधे सेकंड में, चारों तरफ सरसरी नज़र दौड़ा लेती है..
और फिर... चोंच से एक छोटा सा निवाला!
फिर से वही इधर-उधर देखना..!

बीच में कभी मूड बन गया, तो कोई गीत-वीत भी गुनगुना लेती है..
सीखने की कोई ज़रूरत नहीं,
पैदाइशी सुरों में ही गाती-बोलती है..!
फिर न जाने उसके मन में क्या आती है?
फुर्र से उस डाल को अलविदा कहती है,
और कोई दूसरा रैंडम पेड़ जा पकड़ती है.!

अब उस डाल पर भी सेम कार्यक्रम! वही पुरानी कैसेट!
फिर कुछ देर में दो-चार सहेलियां, चिड़ियां आ जाती हैं,
कुछ गपशप होती है... कोई बहुत गहरी चर्चा नहीं..
थोड़ा टाइमपास करने के बाद, वे पास ही,
पेड़ के बगल वाले तार पर जा बैठती हैं

फिर से वही चूं-चूं, वही तराने, पर अब कोरस में... ग्रुप सॉन्ग!
और फिर अचानक... अपने-अपने घरों को निकल जाती हैं

पर ठीक-ठीक कहां जाती हैं? कौन तय करता है यह?
उड़ती होंगी मनसोक्त... जहां जी चाहे वहां!

निसर्ग ने इंसान को होशियार दिमाग देकर
कहीं मूर्ख तो नहीं बना दिया?

इसी गंभीर विचार के साथ हम टेरेस से,
सीढ़ियों के रास्ते नीचे उतर आए..!
पंख नहीं हैं ना हमारे पास... उड़कर आने के लिए..!

६६) पंछी..

एक आलीशान एयरपोर्ट पर...
लोहे की उस भली-बड़ी, भीमकाय फ्लाइट की तरफ,
एक नन्हे से परिंदे ने... आँख उठाकर देखा तक नहीं!

उसे क्या परवाह तुम्हारी इस मशीनी तरक्की की?
वह तो बस... अपनी ही धुन में, अपने ही ताल में,
कुछ गुनगुनाते हुए, फुर्र से उड़ गया।

और जाते-जाते... क्षितिज पर अपने पंखों से
लिख गया एक मौन अट्टहास,
मानो उड़ा गया हो— हम इंसानों के
इस 'महा-ज्ञानी' दिमाग का मज़ाक...!

६७) मुखौटों का विसर्जन

झूठे "लव यू" का शोर मचाने वाले...
वे तमाम लोग, अब कोसों दूर हो गए..
पर सच कहूँ? एक बड़ा फायदा हुआ
— इस चेहरे के 'बदरंग' हो जाने का..

कम से कम, सारे झूठे नकाब तो उतर गए,
बाकी रह गए बस वो चंद लोग...
जिन्हें 'रूप' की चमक से नहीं,
मुझसे... मेरी रूह से वास्ता था..!

६८) लिनेन सी ज़िंदगी

दुनिया बेफ़ाम दौड़ रही है, बहुत आगे निकल गई है,
पर वह... आज भी उसी 'कैसेट' के गानों में ठहरी है
जो उसने दी थी। दुनिया अब 'स्पॉटीफ़ाय' है,
'पेन ड्राइव' है... रफ़्तार है,
पर उसे आज भी पीछे मुड़कर देखना ही रास आता है...!

जब वह शून्य में कहीं नज़र आता है,
तब उसे लगता है—कि असल में वह दुनिया से
कितना आगे निकल आई है,
और यह सोचकर वह मन ही मन मुस्कुरा देती है...
वही मुस्कुराहट... उसे फिर
यादों के घने जंगलों में खींच ले जाती है,
और आँखों की कोरों पर नमी उतर आती है....

तुम्हारे उसी 'लिनेन के शर्ट' का यह रुमाल है,
आँखों में जैसे रुई ने अपना घर बना लिया हो..
"ज़िंदगी कितनी लिनेन ही थी तुम्हारे साथ...!"
यह कहते-कहते शाम,
यादों का एक उदास धागा बुनने लगती है...!

६९) प्रेम

अपने प्रति होने वाले अनुराग जैसा,
किसी दूसरे व्यक्ति के लिए भी...
उतना ही अथाह प्रेम हृदय में होना;

सच कहूँ तो— इस पूरी कायनात में,
इससे दुर्लभ कुछ भी नहीं...!

७०) पट्टी

उदासी और बेचैनी से घिरा एक मरीज़,
क्लीनिक में बैठे सायकाइट्रिस्ट से अचानक बोला—

"सर! ज़िंदगी में रत्ती भर भी दुःख नहीं है...
कहीं इसी भ्रम में तो आपकी पूरी उम्र नहीं कटी जा रही? ना?"

बीमारी के उस हलके से हिस्से को अगर छोड़ दें,
तो कुछ लोग कभी-कभी, कितनी सहजता से...
कितनी गहरी और ख़ूबसूरत बात कह जाते हैं!
दरअसल, हमारी ही आँखों पर,
किसी के "नासमझ होने की पट्टी"..
कितनी कड़ाई से बंधी होती है, बिल्कुल फिक्स्ड!

७१) खिड़की

सुबह की पहली धूप जब दस्तक देती है,
और हाथ हौसले से खिड़की की सिटकनी खोलते हैं...
तब सामने बिखरे उस कुदरती कैनवास को,
जो निश्छल आँखों से बस निहारते रह जाते हैं,
वे लोग... सचमुच बहुत खूबसूरत होते हैं...!

वे जानते हैं कि साँसें लेना महज़ एक 'मशक्कत' नहीं,
और लकड़ी के उस चौखटे का वजूद,
सिर्फ हवा के आने-जाने का रास्ता नहीं...

उस खिड़की की झिरी से,
हमारा ठहरा हुआ 'घर' भी दबे पाँव बाहर निकल जाता है,
आसमान को छूने, हरी घास पर टहलने...
आखिर ईंट-पत्थरों की उस मुकम्मल चार दीवारी को भी,
भीतर ही भीतर... अकेलेपन की ऊब घेरती होगी ना!
मगर अफ़सोस... वह बेज़ुबान
अपनी तन्हाई कहे तो किससे कहे?
इस मतलबी दुनिया के शोर में,
कुछ लोग उस खिड़की की ताज़ा हवा जैसे होते हैं...
जो ज़िन्दगी को संजीदा नहीं,
एक अल्हड़, मासूम खेल बनाए रखते हैं...!

७२) सूनी चौखटें: एक याद

आँखों के सामने खुली वे आमने-सामने की खिड़कियाँ,
अब बेजान होकर... बस एक-दूसरे को ही निहारती हैं..
कॉलेज का वह दौर क्या थमा, खिड़कियाँ वीरान हो गईं,
मानो रूह निकल गई हो इस शहर की...
और बस्तियां खाली हो गईं...

वे गवाह थीं... हवा में तैरती उस अनकही मोहब्बत की,
खामोश नज़रों से रची गई उस अदृश्य इबादत की...
मगर अब... वक्त की जंजीरें ऐसी कसी हैं
कि ये खुलता ही नहीं,
जिंदगी देहली के बाहर खड़ी है,
पर अब कोई रास्ता मिलता ही नहीं...!

कितने मुकम्मल थे... कॉलेज के वे मासूम दिन,
जब इस सीने में धड़कते दिल के पास भी,
सिर्फ और सिर्फ... प्यार की खिड़कियाँ हुआ करती थीं..!

७३) अमीर खिड़कियाँ

वो चौखट जो खुलती थी कभी...
तो सीधे सामने जंगल खिलता था,
हवाएँ इत्र छिड़ककर, बदन को रूह तक छू जाती थीं,
और संग लाती थीं आँगन में,
वो कोमल मखमली धूप के कतरन...

हाँ, सच है... हम तब बहुत गरीब थे
मगर हमारी वो गुरबत भी ज़्यादा दिनों तक ठहर न सकी
हम बहुत ज़हीन निकले, बहुत मशक्कत की
और शहरों की बाहों में सिमट आए, और वो...
वो कंचन जैसी 'ग़रीब' खिड़कियाँ पीछे छूट गईं,
उम्र भर के लिए...!

अब इन बंद काँच के आलीशान दरीचों पर,
केवल मसनूई पर्दे और महँगे फ़्रेम सजाने का दौर है!

७४) यादों का मनीप्लांट

"पैसे क्या पेड़ पर उगते हैं?"
कभी नाराज़ होकर... उसने उससे यही पूछा था..
तब उसने बस मुस्कुराकर कहा था
— "अरे, बस एक 'मनीप्लांट' ही तो लेना है,
ज़रा से ही तो चाहिए!"

आज खिड़की में वह 'मनीप्लांट' मुस्कुरा रहा है...
इंसान न रहे, तो क्या हुआ?
उनकी यादों की जड़ों में... उम्मीदों का पानी सींचते रहना,
कम से कम, यह तो हमारे बस में होता है...

यह कहते हुए वह... उसे
असीमित आकाश में ढूँढ रही थी,
क्योंकि उस खिड़की से,
अब आसमान बिल्कुल साफ़ दिखता है...!

७५) सुनो ओ पेंटर!

हर बरस त्योहारों की दहलीज़ पर,
जब लोहे की इन सर्द सलाखों को हम रंग से सहलाते हैं,
तो इन मूक खिड़कियों के मन में भी...
नए लिबास की उमंग जागती है..
ये दरारें, ये ज़ंग... सब ओझल हो जाते हैं एक ही हाथ में,
मानो किसी बच्चे ने ज़िद करके,
दीवाली का नया जोड़ा पाया हो...!

वक्त की आंधियों में भी,
ये खिड़की आज भी उतनी ही नन्हीं है,
बिल्कुल तुम्हारे और मेरे उस पुराने अक्स जैसी...
जो दुनिया की नज़रों में 'बड़ा' तो हो गया,
पर भीतर से अब भी... उसी मिट्टी की सोंधी महक में कैद है..
थक गए हैं हम... दुनियादारी की इस
बेरंग धूल को ढोते-ढोते,
अब हमारा भी जी चाहता है,
कि कोई हमें फिर से निखार दे!
तभी तो दिल की किसी सूनी मुंडेर से...
एक पुकार आती है—

"सुनो ओ वक्त के पेंटर!
दुनिया से कह दो, कोई ज़रा आवाज़ दे

— कि हमारे भीतर के उस बचपन को भी...फिर से सँवरना है,

सुनो ओ वक़्त के पेंटर...!

हमें भी... ख़ुद पर कोई नया चटक रंग मलना है!

७६) दरीचे और ढोंग

दरीचों के इन लिबासों से, खिड़कियों के इन पर्दों से...
अक्सर बयां हो जाती है, किसी घर की माली हालत!
मुफ़लिसी का घर... तो सस्ते, मटमैले से पर्दे,
और रईसों का मकां... तो मखमली, महँगे पर्दे!
पर इन पर्दों के पीछे छिपी... हक़ीक़त को भाँपकर,
शायद वह खिड़की भी... मन ही मन गुनगुनाती होगी
— "परदे में रहने दो, पर्दा न उठाओ...!"

क्योंकि वह खिड़की बखूबी जानती है
— कि उस अमीर घर के रेशमी पर्दों के पीछे...
कितना कड़वा सन्नाटा है,
और उस 'डाउन टू अर्थ', गरीब घर की झिरियों से...
कितना अपनापन बहता है!

७७) किफ़ायती फ़लसफ़ा

कार के पिछले चक्के में... एक छोटा सा पंक्चर है,
मगर पाँच रुपये की हवा...
पंद्रह दिनों की बेफ़िक्री दे जाती है..
एक बरस बीत गया... यह सिलसिला यूँ ही चल रहा है,
ज़िन्दगी कट रही है... और पंक्चर वहीं का वहीं है!

उसे जोड़ना... कोई बहुत बड़ा हुनर तो नहीं,
पर उसे ठीक करके... कोई बहुत बड़ी खुशी मिल जाएगी,
ऐसा भी नहीं! शायद... मेरे 'मन' ने
इस जुगाड़ के सुकून को... बखूबी समझ लिया है,
और उस मन की रज़ा के आगे... भला किसकी चली है?

एक मीठी सी सुस्ती है... एक 'लेज़ी' सी ज़िन्दगी है,

जहाँ मुकम्मल होने से ज़्यादा...
इस अधूरेपन में ही आशिक़ी है!

७८) अस्तित्व का संवाद

परिचय हुआ परिंदों के साथ...
और फिर एक गहरी आत्मीयता हो गई पेड़ों से!
समझ आया कि वक्त एक अविरल प्रवाह है,
और मैं भी बस बहता चला गया
— ज़िंदगी की लहरों के साथ-साथ..!

राह के किसी अनजाने मोड़ पर
कुछ अनछुए सुर मिल गए,
जब मैं बेफ़िक्री में गुनगुना रहा था इन रास्तों के साथ..

यह तो तय था कि अंत मेरा निश्चित है...
मगर कल इसी सच पर एक
लंबी गुफ़्तगू हुई मेरी—मौत के साथ!
चाहा कि जब पत्तों की तरह शाख़ से गिरूँ,
तो भीगकर गिरूँ अपनी ही तृप्ति में...
ताकि फिर से उग सकूँ,
फिर से अंकुरित हो सकूँ— इसी माटी के साथ!

७९) यादों की एक कहानी

बच्चे ने खेल-खेल में फोड़ दिया गुब्बारा
और भीतर कैद वो हवा... न जाने किधर भागी!
साँसें फूलने लगीं बेचारी उस हवा की,
जैसे तपती धूप में उसे छाँव की तलब जगी हो...!

शाम के धुंधलके में घुली एक शहद सी महक,
और तुम्हारी याद... चुपके से मुझे छूकर गुजर गई...
वक़्त कितना बेधड़क प्रवाह है न?
देखते ही देखते यादों की एक पूरी कहानी बह गई...!

नदी के किनारे पंछियों का मजमा लगा है,
और गीली रेत पर जैसे झुक आया है समूचा अंबर।
चाँद और चाँदनी भी आज भीगे-भीगे से हैं,
पर इन प्यासे होंठों पर... वही एक अधूरी सी पुकार है!

८०) अमूर्त के तट पर

अमूर्तता के किसी अनजाने छोर पर..
एक बोलता हुआ चित्र, सुरों की छुअन से नहा उठे;
नदी के तट पर बैठा हो एक निशब्द, मौन परिंदा,
और समूचा अम्बर... सिमट कर
उसकी नन्ही चोंच पर ठहर जाए!
फूलों के बोझ से झुक आई है एक कोमल डाली,
साथ बिछाई है उसने... अपनी हरी मखमली छाँव;
और देखो,
कैसे इस घने अंधेरे की खाल छीलती हुई
— धूप की एक महीन सी किरन,
बन गई है इस उजाले की जादुई माया!

८१) मौसम..

जब आपस में बात करने को कुछ न बचा हो..
. तो आख़िरकार, यह प्रकृति ही काम आती है!

तभी तो... एक ही ऊंची इमारत की
पाँचवीं मंज़िल पर रहने वाली चाची,
पहली मंज़िल वाली चाची से फोन पर पूछ रही थीं—

"और कहो... तुम्हारी तरफ़ कैसा है मौसम,
क्या वहाँ भी बारिश हो रही है?"

८२) ममता की कीमत

प्रेम की तुलना में, आखिर किस हद तक
दी जाए अहमियत पैसे को?
यह बात 'उन्हें' समझ आ गई उस दिन,
सड़क के एक छोटे से चौराहे पर...!

लाल बत्ती पर खड़ी थी एक युवती,
फटे-पुराने लिबासों में लिपटी हुई
उसके धूल से सने, बहती नाक वाले,
और भूख से बिलखते कंधे पर पड़े बच्चे के लिए
— वह कार का कांच थपथपा रही थी,
बस दो-चार रुपयों की आस में..
कार का शीशा नीचे कर, उन्होंने यूं ही सहज भाव से पूछ लिया
— "यह बच्चा हमें दे देगी क्या?
तू जितने कहे, उतने पैसे दूँ? पाँच लाख... या दस लाख?"

इस सवाल पर... उसका वह तीखा,
इनकार से भरा अट्टहास, और वहाँ से बिजली की फुर्ती से,
अपने कलेजे के टुकड़े को समेटकर भाग जाना...
पीछे छोड़ गया सदियों पुराने कई सवालों के जवाब...!

हाँ! 'प्रेम' नाम की भी कोई शय होती है दुनिया में,
यहाँ सब कुछ पैसों से खरीदा नहीं जाता...!

८३) वक्त की हथेली

रात की ठंडी हथेली पर,
दिन की सारी उलझी हुई रेखाएं
— आज कितनी साफ और स्पष्ट नजर आ रही हैं!

धूप का शोर अब शांत है,
चेहरों के नकाब अब उतर चुके हैं,
और सच... अपनी पूरी नग्नता के साथ सामने खड़ा है।

अब कुछ भी तो नया नहीं होना,
न कुछ खोना है, न कुछ पाना है,
अब तो बस... वक्त का गुजर जाना बाकी है!

८४) मोड़ और मंज़िल

रास्ते की उस अंजान, भटकती हुई ढलान पर...
बस एक बार, मेरा तुमसे आमना-सामना क्या हुआ,
मैं तुम्हें 'क्रॉस' करके आगे क्या बढ़ा...

कि उसके बाद— जैसे रास्तों की सारी तल्खी,
सारा अकेलापन गायब हो गया,
काँटे सिमट गए, धूल ठहर गई,
और सफर... मुकम्मल तौर पर बेहद खूबसूरत हो गया!

हाँ! तुम महज़ एक राहगीर नहीं थे, तुम वो मोड़ थे,
जिसके बाद रास्ते अपनी मंजिल पा जाते हैं...!

८५) नन्हा आतिथ्य

मुसलाधार बारिश में— आसमान से एक भारी बूंद,
एक नन्हे, सुकुमार फूल पर पूरी ताकत से गिरी..

प्रहार बड़ा था, पर फूल विचलित न हुआ,
उसने उस बूंद को मिट्टी में बिखरने नहीं दिया..
भीषण प्रलय के बीच भी,
उसने उसे अपनी पंखुड़ियों में
सहलाया, और बड़े सुकून से खुद में ठहरने दिया..

कितनी दूर से थक कर आया था वह मुसाफ़िर...
नन्हे से फूल का, यह कितना प्यारा आतिथ्य था!

८६) जड़ों का अहोभाव

शाख पर पूरे शबाब से खिले हुए एक फूल ने,
नीचे झुककर, उस मटमैली मिट्टी का शुक्रिया अदा किया...

और बड़े लाड़ से बोला— "शुक्र है!
कि तुमने मुझे मिट्टी में नहीं मिलाया,
बल्कि अपनी छाती के रस से सींचकर,
इतनी खूबसूरती से, और इतने दिल से खिलाया!"

यह महज़ हवा में तैरती हुई खुशबू नहीं थी,
यह तो... उस सुगन्धित फूल का
अपनी ज़मीन के प्रति
— एक असीम, मौन और पवित्र 'अहोभाव' था!

८७) खूबसूरत बीमारी

हाँ सच ही तो है... प्रेम शायद एक मानसिक बीमारी ही है!
पर... बेइंतहा, असीम और जादुई रूप से सुंदर..!

खुद से भी ज़्यादा किसी और को चाहना,
किसी और की धड़कन पर अपना वजूद वार देना,
यकीनन, 'नॉर्मल' तो कतई नहीं है!
मगर इस प्रोटोकॉल पर चल रही दुनिया में,
इससे सुंदर, इससे पाक भी तो कुछ और नहीं है..!

कितना मुकद्दर वाला होता है वो दौर,
जब इंसान 'नॉर्मल' नहीं रहता!
क्योंकि आम होना तो महज़ सांसें गिनना है,
पर इस पागलपन में जीना...
इस कायनात की सबसे अनमोल,
सबसे अनूठी और दुर्लभ सौगात है!

८८) खिड़की और स्क्रीन

सफ़र में... अब महज़ खिड़की से बाहर देखना भी,
कहाँ 'नॉर्मल' रह गया है इस ज़माने में!

पल भर को नज़रें बाहर क्या घूमीं,
कि बगल की सीट से कोई सहयात्री तुरंत पूछ बैठता है
— "भैया, फोन चार्ज नहीं है क्या? चार्जर चाहिए तो ले लो!"

अजीब दौर है...
अब खुली आँखों से कुदरत को निहारना भी,
एक तकनीकी ख़ामी समझी जाने लगी है!

८९) तरक्की की परिभाषा

मूसलाधार बारिश, कड़कती बिजली...
और तीन साल की उस नन्हीं जान का,
रोआंसा चेहरा कर, फिक्र में डूब जाना—

"पापा... ओ पापा! अब ये फुटपाथ वाले कहाँ जाएंगे?"

उस मासूम की आँखों में ठहरी वह चिंता,
और परायों के लिए छलकते वे आँसू...
यही तो है असली तरक्की! यही है... 'प्रोग्रेस'!

९०) वृक्ष और मनुष्य

एक पेड़ की हथेली की रेखाएं,
कोई दूसरा पेड़ कभी नहीं पढ़ता...

क्योंकि, पेड़ 'इंसान' नहीं होते!
न उनके पास कोई शातिर दिमाग होता है,
न ही दूसरों के शोषण की प्यास..!
वो तो बस... सह-अस्तित्व जानते हैं..

सवाल तो यह है... कि इंसान, आखिर कब 'पेड़' होगा?

९१) भ्रम

वैभव और सुख-सुविधाएं,
जब अचानक रुखसत हुईं उनकी ज़िंदगी से...

तब जाकर खुला यह राज़,
कि कभी कोई मोहब्बत थी ही नहीं दरमिया..
वो तो बस...
अच्छे दिनों का एक ख़ूबसूरत भरम था!

९२) सीपियाँ और समंदर

साहिल पर सीपियाँ चुनते शाम ढल गई,
जेबें भर गईं, मगर समंदर ने टोका नहीं..
वो लाता है तोहफ़े, और लौट जाता है मुड़कर,
जैसे गहराइयों में कोई अथांग आसमाँ छुपा हो..

थककर लहरें भी किनारों पे सुस्ताती हैं,
जैसे मन की लहरों को कोई ठहराव मिल जाए..
तब 'मैं' पीछे छूट जाता है,
और हम 'एक' हो जाते हैं,
इन चार पल की खुशियों में
— हम ही समंदर हैं, और हम ही किनारा..!

घर भर अब बस... यादों की सीपियाँ हैं!

९३) सौ ग्राम ज़िंदगी

"सोने की दुकान पर अंगूठी तीन ग्राम की लें,
पाँच की या दस की?
इसी उलझन में कितना वक़्त गुज़र जाता है!
मैं चाहता हूँ कि तुम मन और विचार से
इतने कलात्मक, इतने अमीर बनो...
कि बिना उलझे, तुरंत तीन ग्राम की अंगूठी चुन सको!"

उसने मुस्कुराते हुए, बड़ी गंभीरता से उससे कहा..
"इन प्यारी उंगलियों के लिए, एक प्यारी सी अंगूठी...!"

फिर अपनी नाज़ुक उंगलियों को निहारते हुए,
वह भी मंद-मंद मुस्कुराई— "तीन ग्राम की ज़िंदगी...!"

बनेगी धीरे धीरे सौ ग्राम जिंदगी ..!

९४) खिलौने

देखा जाए तो... हम सब अब भी बच्चे ही हैं..
वही ज़िद, वही मासूमियत,
वही किसी चीज़ को पाने की ललक..!

फ़र्क़ बस इतना है— कि वक़्त के साथ,
हम सबके हाथों के खिलौने बदल गए हैं..

किसी के पास गाड़ी है, किसी के पास रुतबा,
कोई यादों से खेलता है, तो कोई ख्वाबों से..!

हम बड़े नहीं हुए,
बस हमारे खेल थोड़े महँगे हो गए हैं!

९५) रिश्तों का गणित

अजीब है ना रिश्तों का ये गणित...
जो हमेशा बुरा बर्ताव करता आया हो,
वह अचानक एक दिन थोड़ा अच्छा क्या हो जाए,
अच्छे इंसान की खुशी का ठिकाना नहीं रहता!

इसके बरअक्स... जो ता-उम्र बस अच्छाई ही बांटता रहा,
उससे बस एक बार, अनजाने में कोई खता क्या हो जाए,
बुरे इंसान का गुस्सा सातवें आसमान पर पहुँच जाता है..

अजब है ये जोड़-घटाव...
कि यहाँ तराज़ू हमेशा उम्मीदों के बोझ से डगमगाता है!

९६) परफ़्यूम ज़िंदगी

उनके साथ बहुत ज़्यादा नहीं होना चाहिए,
जिन्हें हमारे 'न होने' से... कोई ख़ास फ़र्क़ न पड़े!

मगर जिनके वजूद को, हमारे होने से चमक मिलती है,
उन्हें कभी 'अंधेरों के फूल' भेंट न करना
उन्हें तो 'जुगनुओं की माला' देनी चाहिए...!

ताकि एक-दूसरे के मन के चारों ओर,
रौशनी की एक बेल लिपटती चली जाए अंतर्मन में...
और जब बुझने लगे ये ज़िंदगी,
तो एक 'फ़ीनिक्स' सा पुनर्जन्म मिले!

ये परफ़्यूम ज़िंदगी है...
रफ़्ता-रफ़्ता, हौले-हौले महकती हुई!

९७) अदृश्य का वैभव

तेज़ हवा और बारिश में, जामुन के पेड़ के नीचे,
जब टपकते हैं कुछ जामुन...
तो पेड़ ने यक़ीनन 'अलविदा' कहते हुए,
उन्हें दोबारा उग आने का आशीर्वाद दिया होगा!
मगर हमें... यह कभी दिखाई नहीं दिया..
हमारे लिए तो जामुन बस खाने की चीज़ है,
खाया, और काम ख़त्म!
हमारा नाता... बस इतना ही तो है..

जामुन खाने के बाद जो गुठलियां बचती हैं,
वे फिर से मिट्टी में अंकुरित हों...
क्योंकि उन गुठलियों के मन में,
एक पूरा का पूरा पेड़ छुपा बैठा है!

सचमुच... जो चीजें दिखाई नहीं देतीं,
वे कितनी असीम, कितनी अफ़ाट होती हैं!

९८)परिंदों की यूनिवर्सिटी

तिनका-तिनका जमा कर एक परिंदे ने,
पेड़ की छांव में एक छोटा सा घोंसला बुना..
कुछ दिन रहा वह पंछी वहाँ... और फिर,
उसे छोड़ किसी और दिशा में उड़ गया...!

सहज आनंद में... चहकना, फुदकना,
और एक मोड़ पर, इतनी शिद्दत और कलाकारी से
बनाए हुए उस आशियाने को यूँ ही छोड़ जाना!
न कोई शोर, न कोई दिखावा, न कोई ढिंढोरा...
मौज थी, मस्ती थी; पर न कोई गुरूर था, न अहंकार!

किसी परिंदे को बस यूँ ही देखते रहना...
अपने आप में एक पूरी यूनिवर्सिटी है!
कौन सिखाता है भला ऐसा?

९९) वक़्त की दहलीज़

कल रात ग्यारह-उनसठ की लोकल, बारह-एक पर आई,
महज़ दो मिनटों में... एक पूरा साल गुज़र गया!

'कहाँ हो?'— पुराने साल के इस सवाल पर,
नया साल मुस्कुराकर बोला... 'बस दो मिनट में पहुँच रहा हूँ..'
पुराना साल थपकियां देते हुए कह गया...
'ठीक है, संभलकर आना!'

लम्हों की ये प्यारी सी ज़ंजीर,
जाते हुए और आते हुए वक़्त को...
एक-दूसरे से बाँध लेती है..!

फिर क्या नया और क्या पुराना... चलो!
अब इश्क़ के सहारे, ज़िंदगी के समंदर में उतरते हैं!

१००) लम्हों के पर

साल की आख़िरी ढलती शाम...
उसने हौले से उससे कहा, "ज़िंदगी उतनी ही है...
जितनी देर तुम मिलती हो, साथ होती हो!"

उसने उसका हाथ अपने हाथ में लिया,
और मुस्कुराकर बोली— "ज़िंदगी बस उतनी ही हो...
कि तुमको आँखें बंद करके देखती रहूँ, सुनती रहूँ "

ये सुनते ही... ढलते हुए सूरज को
मानो पंख निकल आए, और वक़्त कब उड़ गया...
दोनों में से किसी को ख़बर ही न हुई!